भूमंडलीकरण और हिन्दी

संपादक :

डॉ. शीतला प्रसाद दुबे

अध्यक्ष एवं शोध निर्देशक

हिन्दी विभाग

के.सी. कॉलेज, चर्च गेट, मुंबई- 20

शैलजा प्रकाशन

57-पी, कुंज विहार-II यशोदा नगर,

कानपुर- 208011

ISBN : 978-93-80788-34-0

पुस्तक	:	भूमंडलीकरण और हिंदी
संपादक	:	डॉ. शीतला प्रसाद दुबे
प्रकाशक	:	शैलजा प्रकाशन 57-पी, कुंज विहार-II यशोदानगर, कानपुर- 208011 फोन : 0512-2633004
संस्करण	:	2015
शब्द-सज्जा	:	विकल्प ग्राफिक्स
जिल्दसाज	:	तबारक अली
मूल्य	:	₹ 500/-

(15)

भूमंडलीकरण और 21वीं सदी की हिंदी कविता

- डॉ. रवीन्द्र नाथ मिश्र

जीवन और साहित्य अतीत की परंपराओं, मान्यताओं, संस्कृतियों आदि से संपोषित होते हुए वर्तमान से ऊर्जा ग्रहण कर भविष्य की ओर उन्मुख होता है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो मध्यकालीन जीवन और साहित्य ईश्वरोन्मुख होते हुए लोकोन्मुख और जीवन के लिए तथा रीतिकाल भक्ति भाव को संजोये हुए नारी सौंदर्योन्मुख कला के प्रति समर्पित था। 20वीं सदी में ईश्वर की जगह सामान्य मानव ने लिया और हम परलोक से लोक की तरफ उन्मुख हुए। आज जब हम 21वीं सदी की बात करते हैं तो लगता है सदी यंत्रों में परिवर्तित होकर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की ओर बढ़ रही है। भूमंडलीकरण का मतलब है कि सारी दुनिया को एक रंग में रंगना और विविधताओं को मिटाकर समरूपता लाना।

अमरीकी पत्रकार टॉमस एल. फ्रिडमैन मानते हैं, "हम अमेरिकी द्रुतगामी विश्व के देवदूत, मुक्त बाजार के पैगम्बर और उच्च प्रौद्योगिकी के धर्माचार्य हैं। हम चाहते हैं कि हमारे मूल्यों और पिज्जा हट्स, दोनों का विस्तार हो। हम चाहते हैं कि सारी दुनिया हमारा अनुसरण करे और जनतांत्रिक एवं पूंजीवादी बने, हर पात्र में एक वेबसाइट, हर होंठ से लगी पेप्सी की बोतल हो।" आगे वे लिखते हैं कि "भूमंडलीकरण की अपनी प्रमुख संस्कृति है, जिस कारण उसकी प्रवृत्ति समरूप बनने की है... सांस्कृतिक दृष्टि से कहें तो, पूर्णतया न सही, मुख्यतया भूमंडलीकरण का अर्थ अमेरिकीकरण- बिग मैक्स से मिकी माउस तक- का विश्व-भर में प्रसार करना है।" (आलोचना-जुलाई-सितम्बर 2003, पृ. 165)

अमेरिकी सोच का परिणाम यह है कि अब मनुष्य का महत्त्व वस्तु की तुलना में हो रहा है। पूंजी के तांडव का हाल यह है कि सुविधा सम्पन्न इंसान भी बाजार में बिकने के लिए खड़ा है। विचारों और वस्तुओं के अंबार में- "सार-सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय" की संकल्पना गायब हो रही है। संचय और भोग की संस्कृति में- त्याग की (जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढै दाम। दोनों हाथ उलीचिए यही सयानो काम) सोच गायब हो गई है। पुरानी परंपराओं और विचारों की जगह नई सोच विकसित हो रही है।

प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' की बिंदु यादव पहले मुन्नी में और बाद में मुन्नी मोबाइल में तब्दील हो जाती है। उपन्यास का प्रमुख पात्र आनन्द भारती दीवाली के अवसर पर मुन्नी को प्रेम के प्रतीक के रूप में कपड़े और मिठाई देता है तो वह खुश नहीं होती लेकिन मोबाइल का डब्बा रखने पर उसके चेहरे पर एक खाश तरह की मुस्कान चमक उठती है और बड़ी उत्सुकता से बोल पड़ती है, 'नोकिया का है न'?

भूमंडलीकरण ने हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में भूचाल खड़ा कर दिया है। परिवार ने नई पीढ़ी की जीवन-शैली और उनके विचारों के समक्ष पुरानी पीढ़ी कसमकस की जिंदगी जी रही है। समझौता करना उसकी मजबूरी बन गई है। वह आज के ढंग का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। समाज में मीडिया और सूचना तकनीकी के द्वारा एक मायानगरी का निर्माण हो रहा है जिसमें हमारी आँखे चकाचौंध हैं। ज्ञानेंद्रपति लिखते हैं-

इक्कीसवीं सदी/देखो, दरवाजे खड़ी है इक्कीसवीं सदी
क्या बनी-ठनी है/रुप की धनी है/इक्कीसवीं सदी
टेलीविजन का चश्मा है/कम्प्यूटर का दिमाग
आँचल है कि इलेक्ट्रानिक/उपकरणों का बाग/गये भाग जाग
(बहुराष्ट्रीय कंपनियों के/साम्राज्यावादी बनियों के)
दरवाजे खड़ी है इक्कीसवीं सदी/अवतरी/यह परी
कहीं मुड़ न जाये उड़ न जाये/बड़ों का बेड़ा कहीं बुड़ न जाये

(भिनसार पृ. 116)

इक्कीसवीं सदी वैश्वीकरण रुपी परी उर्वशी, मेनका और रम्भा की भांति बड़े-बड़े पूंजी के देवताओं को लुभा रही है और वे उस पर मुग्ध हैं। दुखद पक्ष यह है कि उसके चक्कर में फँसकर आम आदमी भी अपनी नींद हराम कर रहा है। इसका प्रभाव यदि शहरों तक सीमित होता तो गनीमत थी। इसने तो देशों और महाद्वीपों की दीवारों को ढहा कर हमारे लोकजीवन में अपनी सेंध लगा दी है। लोक जो कि अनगढ़, खुरदरा, बिना सांचे में ढला प्रकृति सी सहजता लिए हुए था। आज उसकी सहजता, सरलता और संवेदन युक्त कोमल भावना गायब होती जा रही है अब पहले सिनेमा में दिखाए जा रहे गाँव का गंवार हीरो और बिना पढ़ी-लिखी अल्हड़ हीरोइन बनी बालिका शहर से भी चतुर और चालाक हो गई है। गाँव में

ग्लोबल के देवता की पूजा हो रही है। हमारी काली माई और डीह बाबा नदारत हैं। ग्लोबल को गाँव के लेबल को ही बदल दिया है। 'हा! ग्राम्य जीवन क्या है?' की संकल्पना गायब हो गई है। अष्टभुजा शुक्ल ने आधुनिक भारत का बड़ा सजीव चित्र खींचा है-

एक हाथ में पेप्सी-कोला/दूजे में कंडोम
तीजे में रमपुरिया चाकू/चौथे में हरिओम
कितना ललितललाम यार है/भारत घोड़े पर सवार है।
एडस और समलैंगिकता की/रहे सलामत जोड़ी
विश्वग्राम की समता में/हमने सीमाएँ तोड़ी
दुनिया पर एकाधिकार है/भारत घोड़े पर सवार है।
तुम भी खा लो, हम भी खा लें/थोड़ा-थोड़ा देश बचा ले
जब तक जिएँ झोपड़ी वाले/तब तक अपने सौंध उठा लें
लालू जी, कैसा बिहार है?/भारत घोड़े पर सवार है।
दुनिया वालों, आकर देखो/यहाँ अहिंसा रोती
जाती हुई शती में, भारत/खोल चुका है धोती
आर्यपुत्र को रथ-विकार है/हलो! फोन का कटा तार है
भारत में कितना मजेदार है! लल्ला घोड़े पर सवार है
लिल्ली घोड़ी पर सवार है।/कितना ललितललाम यार है!

(दु:स्वप्न भी आते हैं- पृ. 77-78)

आर्थिक उदारीकरण, उपभोक्तावाद और पूंजीवाद के चलते अब अधिकांश रूप से युवा वर्ग हेल्थ पर ध्यान न देकर वेल्थ पर नजरें गढ़ाए हुए हैं। पूंजीपति क्रिएशन ऑफ वेल्थ में अधिक से अधिक पूंजी लगाकर धन कमाने में जुटा हुआ है। इसके लिए उसकी नजरें उसके द्वारा बनाई गई वस्तुओं को खरीदने वाले उपभोक्ता वर्ग पर टिकी हुई हैं। इस वर्ग को रिझाने के लिए वह मीडिया और अन्य माध्यमों से कोई कोर कसर नहीं छोड़ रहा है। यहाँ समाज का क्रय-क्षमताविहीन गरीब आदमी बाजारवाद की तड़क-भड़क को ललचाई हुई नजरों से देखता है और विज्ञापन तथा दूरदर्शन की चमक-दमक की संस्कृति में जिंदगी की रोजमर्रा की गाढ़ी कमाई को मोबाइल और विज्ञापन की वस्तुओं पर खर्च कर रहा है। एकान्त श्रीवास्तव "बाजार" नामक कविता में लिखते हैं।

यहाँ थोड़े-से लोग विक्रेता हैं बाकी सब क्रेता
बाकी सब में बहुत से लोग क्रेता भी नहीं हैं
जो क्रेता नहीं हैं यानी जिनकी जेबें खाली हैं
उनकी कोई जगह नहीं है बाजार में
ये बाजार के वृत्त से बाहर हैं
चढ़ गई हैं कीमतें चीजों की आकाश में
गिर गया है आदमी का बाजार भाव (बी से फूल तक, पृ. 38)

आज आम आदमी भी ग्लोबल दुनिया का हिस्सा बनना चाहता है। फलस्वरूप पूंजी अर्जित करने के लिए वह श्रम का सहारा न लेकर अनैतिक एवं अपराधिक घटनाओं का हिस्सा बन रहा है। वह यह देख रहा है कि पूंजी का संग्रह ईमानदारी, निष्ठा और मूल्यों के प्रति समर्पित भाव से कार्य करने पर अर्जित नहीं की जा सकती है। जहाँ पूंजी होगी वहाँ नैतिकता का सवाल ही नहीं उठता। यह हम वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़े पूंजीपतियों और नेताओं के माध्यम से जान सकते हैं। आज बाजार में बड़े से बड़ा आदमी बिकने के लिए तैयार है। बद्री नारायण की 'बाजार का गीत' नामक कविता का एक अंश द्रष्टव्य है-

झन-झन-झन-झन/सोना बजता
अरे वह क्या ?/यह तो गालिब
दाढ़ी खुजलाते बिकने चले आ रहे हैं
घर में न लोटा रहा न थाली
"अगर मैं बिकना चाहूँ तो कितने में बिकूँगा ?"
निराला जी किसी से बतिया रहे हैं
यह मेरे पिता, यह मेरे मामा, यह मेरे ताऊ
हाय! मैं क्या करूँ/सब बाजार में बिकने चले आ रहे हैं
बाजार में बढ़ती ही जा रही है भीड़
सज्जनों! बाजार में बढ़ती ही जा रही है भीड़ (शब्दपदीयम, पृ.51)

शम्भुनाथ का अभिमत है, "वास्तविकता यह है कि दुनिया में इस समय एक ही संस्कृति की धूम है, जो वैश्वीकरण के पीछे खड़ी है। यह मुनाफे, खुदगर्जी और निर्ममता की संस्कृति है।... अन्ततः बड़ी पूंजी के चमकीले आतंक के सामने कुछ भी ठहर न सका। पूंजीवाद इतना अराजक कभी नहीं था, उसमें इतनी ताकत पहले कभी नहीं थी। यह अराजकता और ताकत का खेल समाज में ऊपर से नीचे तक देखा जा सकता है।" (आलोचना)

हमारा सामाजिक स्तर घर में वस्तुओं के संग्रह पर आंका जाने लगा है। अब इंसान का महत्व कम और वस्तु के साथ-साथ इंसानी रिश्तों पर भी लागू हो रही है। जिसके मूल में बाजारवाद है। इसके कारण दुनिया की विविधताएँ और विशिष्टताएँ मिटती जा रही हैं। वह गाँव जो अपनी गरीबी और अभावभरी जिंदगी में खुश था। उस समय अभाव में भी सम्पन्नता थी लेकिन आज मैं देखता हूँ तो सम्पन्नता में भी विपन्नता नजर आती है। एक समय था जब कबीर बाजार में खड़े होकर सबकी खैर मनाते थे। वस्तुत: बाजार आवश्यक घरेलु वस्तुओं को खरीदने के साथ-साथ मिलने-जुलने और हाल-चाल जानने का केंद्र था। जहाँ आत्मीय प्रेमभाव और संवेदना झलकती थी। आज वहीं पर सारे सुख और आनंद बाजार में तलाशे जा रहे हैं। राजेश सक्सेना बाजारवाद का चित्रण इस प्रकार करते हैं -

हमें सुख चाहिए/और उसकी तलाश में
मिलता है एक बाजार/जहाँ सुख की दुकानें हैं
हर तरह के सुख की/तयशुदा कीमतों में
ब्याज के साथ छुपा है ब्याज का ब्रह्मास्त्र
बाजार ही बनाएगा हमारी दुनिया को सुखी। (साक्षात्कार, अगस्त 02)

अब हम खुशी की तलाश साहित्य और विचार में न करके बाजार में कर रहे हैं। विचार पर बाजार हावी हो रहा है। जहाँ विचार हमें अपने परिवेशगत जीवनमूल्यों और जड़ों तक ले जाकर मनुष्य को गढ़ता और सँवारता था और बेहतर इंसान बनाने में मदद करता था। आज वहाँ बाजार उसकी विपरीत दिशा में ले जाकर मानवीयता का हनन कर रहा है। दरअसल उत्तर आधुनिकता और भूमंडलीकरण की धमक थोड़ा आगे-पीछे सुनाई दी। एक को अंतरराष्ट्रीय विचार और दूसरे को बाजार कहा गया। प्रभाकर क्षत्रिय अभिमत है कि "आधुनिकता की तार्किकता, बौद्धिकता, वैज्ञानिक दृष्टि, यथार्थचेतना और लौकिकता की जगह उत्तर आधुनिकतावाद तंत्र-मंत्र-मिथक, फैंटेसी, शून्यवाद, देसीवाद, जड़ों की ओर वापसी का नारा दे रहा है और कह रहा है कि आदमी की वापसी उसी सहजता की ओर होनी चाहिए, जिस सहजता से उसने आदिम जीवन प्रारंभ किया था।" (समय का विवेक- पृ. 15)

वैश्वीकरण से एक नई प्रकार की संस्कृति विकसित हो रही है। जिसे हम कुछ मायनों में सकारात्मक कह सकते हैं। वह यह है कि आज के युवाओं में जाति-पाति, धर्म-सम्प्रदाय, खान-पान, रहन-सहन आदि के बंधन ढीले हुए हैं, लेकिन यहीं पर वे पारंपरिक नैतिक मान्यताओं, आदर्शों, मूल्यों, आचार-विचारों आदि की परवाह न

करके उन सारी सुख-सुविधाओं का भोग करना चाहते हैं जो कि अमेरिका और यूरोप के लोग कर रहे हैं। एक समय था जब कैरेक्टर को जीवन में सबसे अहं माना जाता था। आज तो स्थिति यह है कि वैश्वीकरण के प्रभाव से बड़े से बड़े संत-महात्माओं के कैरेक्टर भी ढीले हो गए हैं। समलैंगिकता जैसी अशोभनीय बात को चटकारे देकर उछाला जा रहा है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अनैतिक कहे जाने वाले सेक्स को समाज का एक वर्ग नैतिक बनाने पर तुला हुआ है। कवि श्याम सुंदर घोष लिखते हैं-

अब तो आदमी हो गए हैं जानवर
और शहर हो गए हैं जंगल और राजधानी महाजंगल
तभी तो हमने निर्णय लिया कि
हम हांका लगवाएँगे शहरों और राजधानियों में। (साक्षात्कार-मार्च-09)

हांका सुनकर हाकिम, हुक्काम, नेता, विधायक, मंत्री, बिचौलिए, दलाल सभी के चेहरों से हवाइयाँ उड़ रही हैं। उनकी बीबियों के चेहरों के रंग उड़ गए हैं। एक समय था जब साहित्य की आवाज बिना हांका लगाए सुनी जाती थी। वह अपना काम चुपके से करता था। अब तो यह कहा जा रहा है कि भूमंडलीकरण की दुनिया में समाज को मशाल दिखाने वाला साहित्य हाशिए पर आ गया है। वैश्विकता की हलचलें जितनी तेज हुई हैं उतनी ही शीघ्रता से साहित्य की मानवतावादी-दृष्टि और मानवीय चिंता का लोप हुआ है। अरुण कमल लिखते हैं-

पहली बार गर्भ धरती युवतियों के गर्भ गिर रहे हैं
माताएं मरे बच्चों को जन्म दे रही हैं
और हिजड़े चौराहों पर थपड़ी बजाते
सोहर गा रहे हैं
हम इक्कीसवीं शताब्दी की ओर जा रहे हैं। (सबूत, पृ. 76)

यही सही है कि भूमंडलीकरण और बाजारवाद के चलते हमारी जीवन-शैली और रहन-सहन में खास फर्क आया है। मध्यवर्गीय समाज ने भी ऊँची छलांग लगाई है। लेकिन यह छलांग मात्र बाह्य जीवन की तड़क-भड़क तक सीमित है। जहाँ लोग अपने हिस्से का आकाश देख रहे हैं। वस्तुतः सबके हिस्से का आकाश देखने में खुशी मिलती है। जैसा कि पहले लोग देखते थे। विनोद कुमार शुक्ल लिखते हैं-

अपने हिस्से की भूख के साथ
सब नहीं पाते अपने हिस्से का पूरा भात
बाजार में जो दिख रही है

तंदुर में बनती हुई रोटी नहीं है।
जो सबकी घड़ी में बज रहा है
वह सबके हिस्से का समय नहीं है।
इस समय। (अतिरिक्त नहीं, पृ. 17)

भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद का शिकार गरीब मजदूर से ज्यादा मध्यवर्गीय परिवार एवं उनके बच्चे हो रहे हैं। यह वर्ग दिखावटी शान-शौकत के लिए बाजार का सहारा ले रहा है। जहाँ उसे आजीवन कर्ज में डुबाए रखने के लिए क्रेडिट कार्डस का बाजारु भूत मिल गया है। वह थोड़े समय की आर्थिक सहूलियत के लिए लंबे समय तक के आर्थिक दंश को झेलता है। 'कस्बे की दुकान में मनमोहन जी' शीर्षक कविता में लीलीधर मंडलोई लिखते हैं-

क्रेडिट कार्डस हवा में उछल रहे थे और मध्यवर्ग के चेहर पर
बनावटी हंसी के पार्श्व में कोई लगातार रो रहा था
घटनाओं के पूर्वानुमान का उछाल जोरों पर था और
भविष्यफल के पन्नों पर
आर्थिक भविष्यफल फन उठाए नर्तन कर रहा था।
(मगर एक आवाज, पृ. 54)

वर्तमान संदर्भ में हमारे बच्चे और युवा पीढ़ी वैश्वीकरण के यांत्रिक दुनिया से सबसे अधिक प्रभावित हो रही है। तकनीकी सूचना क्रांति के लाभ से इनकार नहीं किया जा सकता लेकिन उसकी टकरार उनकी जिंदगी को तहस-नहस कर रही है। आजकल बच्चों के खेल का मैदान डायनिंग रुम में वी.डी.ओ. का खेल हो गया है। इससे समय मिलता है तो चैनलों के फटाफट बदलने और फिर मोबाइल पर किट-किट कर मैसेज भेजने में जाता है। इस कार्य में उनका सिर्फ दिमाग और उँगलियाँ सक्रिय रहती हैं, बाकी शरीर के सारे अंग व्यायाम से दूर। इसके अतिरिक्त उसके ऊपर लदे हैं, स्कूल, अभिभावक, समय और परिवेश। आज हम युवाओं को ज्ञानी, समाजसेवी, राष्ट्रसेवी आदि के रुप में न देखकर पैकेज के रुप में देख रहे हैं। अब विद्वान की पूजा न होकर पूंजीपति की पूजा हो रही है।

पंडित जवाहरलाल नेहरु ने कहा था कि 'कोई देश कितना सभ्य है, इसे दो बातों से जांचा जा सकता है। एक तो वहाँ नारी का क्या स्थान और दशा है; दूसरे उसकी औद्योगिक प्रगति कितनी है। भूमंडलीकरण के दौर में नारी शोषण का आधुनिक रूप हमारे सामने आ रहा है। एक समय था जब वह घ्ज्ञर और समाज के अंदर यातना भोग

रही थी लेकिन आज वह मीडिया के विभिन्न माध्यमों में बाजारवाद के कारण शोषण का शिकार बन रही है। यह सही है कि शोषण का स्वरुप बदला है। अनामिका लिखती हैं -

हंसती हुई दीखती हैं वे/हर ओर-
टी.वी. में/सारे मुखपृष्ठों/चौराहों पर!
पिटकर भी निकली हों घर से/तो जाहिर नहीं होने देती!
नये जमाने का घूंघट/हंसी है शायद-
सबके मुंह पर है यह-/एक नये ड्रेसकोड के तहत!
एक अंगूठे की तरह ही/दिखाती हैं देह/पार टीवी के/वे।

(कविता में औरत, पृ. 122)

मीडिया पर बाजारवाद को बढ़ावा देने के लिए नारी जिस प्रकार से अंगों एवं भावभंगिमाओं का प्रदर्शन कर रही है, उसके पीछे उसकी अपनी मजबूरी के साथ-साथ बाजारवाद का दबाव अधिक है, क्योंकि उपभोक्ता को आकर्षित कर पैसा कमाने की भूख प्रबल है। मंगलेश डबराल लिखते हैं -

उन्हें ले जाया जाता है निर्जन रोमांचक यात्राओं में
खतरनाक कगारों तक/बगीचों और रोशनियों से होते हुए
वासना के धुएं से भरी शानदार इमारतों में
रात्रिभोजों और इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में
जहां पियक्कड़ अय्याशें उन पर सवारी गांठते हैं।

(आवाज भी एक जगह है, पृ. 19)

इस संदर्भ में आज भी नारी शोषण का शिकार बन रही है। पहले उसे वाचिक और शारीरिक यातना भोगनी पड़ती थी। आज वह आए दिन वासना के दंश को झेल रही है। नारी का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि वह कला और साहित्य के माध्यम से अपनी सारी दबी हुई मानसिकताओं, मान्यताओं, परंपराओं, वर्जनाओं की धज्जी उड़ाकर उन्मुक्त वातावरण में जीना चाहती है। यह उन्मुक्तता आज के युवा-युवतियों में दिखाई दे रही है। प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार उन्मुक्तता समाज में नैतिक मूल्यों को बचा पाएगी? क्या इससे एक स्वस्थ और सुंदर समाज की कल्पना की जा सकती है?

भूमंडलीकरण के दौर में हमारी पारिवारिक मानवीय संवेदनाएं आहत हो रही हैं। परिवारों का विकेंद्रीकरण से संयुक्त परिवार का हांस-परिहास, प्रेम-भाव, अपनापन, दया, करुणा, सहकारिता आदि का लोप हो गया है। इस दौर में चंद्रकांत देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, अरुण कमल, कुमार अंबु, बोधिसत्व, एकांत श्रीवास्तव आदि

कवियों ने माँ, पिता, दादा-दादी, भाई-बहन, काका-काकी आदि पर अधिकांश कविताएँ लिखी हैं। चंद्रकांत देवताले की "माँ जब खाना परोसती थी" कविता में भूमंडलीकरण के पूर्व और बाद की परिवर्तित संवेदनाओं को देखा जा सकता है।

वे दिन बहुत दूर हो गए हैं
जब माँ के बिना परसे
पेट भरता ही नहीं था
वे दिन अथाह कुएं में छूटकर गिरी
पीतल की चमकदार बाल्टी की तरह
अभी भी दबे है शायद कहीं दर।

अब सब अपनी-अपनी जिम्मेदारी से खाते हैं
और दूसरे के खाने के बारे में एकदम निश्चिन्त रहते हैं
फिर भी कभी-कभार मेथी की भाजी या बेसन होने पर
मेरी भूख और प्यास को रत्ती-रत्ती टोहती
उसकी दृष्टि और आवाज तैरने लगती है।

(लकड़बग्घा हंस रहा है, पृ. 51-52)

भूमंडलीकरण के दौर में बाजारवाद और मूल्यों के कारण पारिवारिक एवं सामाजिक रिश्तों की प्रगाढ़ता में भी कमी आ रही है। अब तो जैसे हम खुश होना भूल गए हैं। कभी-कभी तो कुछ लोग हँसते हैं तो हम भी हँसने लगते हैं। मनुष्य भौतिक सुख की तृष्णा में आत्मिक सुख भूलता जा रहा है। शशिभूषण मिश्र 'हमें असभ्य रहने दो' कविता में लिखते हैं -

हमें रहने दो असभ्य, आदिम और जंगली
नंगे और भूखे रहकर भी बहुत खुश हैं हम
स्याह रातों और भयावह रिक्तता के
पर्याय हो चुके शहरों में
हमें मत तब्दील करो।

गांधीजी ने 'हिंदी स्वराज' में लिखा है कि "पश्चिम के देशों में, यूरोप-अमेरिका में जो आधुनिक सभ्यता जोर कर रही है, वह कल्याणकारी नहीं है, मनुष्य हित के लिए वह सत्यानाशी है। गांधीजी मानते थे कि भारत में और सारी दुनिया में प्राचीन काल से जो धर्म-परायण, नीति-परायण सभ्यता चली आ रही है वह सच्ची सभ्यता है।

आज हम गांधी जी की दुनिया की परवाह न करके आधुनिक टेक्नॉलाजी से लैश होकर प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँच रहे हैं। इसके साथ ही बाजारवाद, उपभोक्तावाद और सूचना क्रांति की अंधी दौड़ में पारस्परिक प्रेम, सद्भाव एवं मानवीय संवेदना जैसी मानवीय पूंजी को छोड़कर हम मृगतृष्णा वाली पूंजी की ओर भाग रहे हैं। इससे मनुष्य की भूख कभी शांत नहीं होगी। कभी-कभी तो लगता है कि अभाव भरी जिंदगी शकून की थी। आज भूमंडलीकरण की बात करने पर हमें अपना 'वसुधैव कुटुम्बकम' याद आता है। जो कि समानता, सहकारिता और नैतिकतावादी मूल्यों पर आधारित था। जिसमें पारस्परिक प्रेम और सद्भाव तथा भोग की अपेक्षा त्याग पर बल था। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' एवं 'हम अन्य न और कुटुम्बी' तथा 'औरों को हँसते देखो मनु, हँसों और सुख पाओ' की भावना से अनुप्राणित था। दरअसल वर्तमान परिदृश्य की आलोचना करके भी हम उसी में जीने के लिए अभिशप्त हैं।

❑❑❑